शोध मंथन Vol. XIII No.III July-Sept. 2022 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.783 (SJIF)

राजस्थान की हस्तकलाएँ व शिल्पकलाएँ

प्राप्तिः 10.09.2022
स्वीकृतः 17.09.2022

73

विधि
शोधार्थी
चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय
मेरठ (उ०प्र०)
ईमेलः *vidhitomar2207@gmail.com*

सारांश

राजस्थान की बहुत सी कलाए बदलते सामाजिक परिवेश में तेजी से बदल रही है। कोई भी कला जब तक समाज के साथ नही जुडती, उनका सहज विकास संभव नही होता। कलात्मक आवश्यकता के रूप में कला जब अपनी जगह बना लेती है, तो कलाकार पीढी दर पीढी उससे जुडते जाते हे। क्योंकि कलाए समाज के दुःख सुख की सहभागी होती है, वे समाज के सहयोग के बल पर ही जीवित होती है। ग्रामीण क्षेत्रों में पूजे जाने वाले लोक देवता, कुदृष्टि से मुक्त करते हैं। लोगों में ऐसी आस्था होती है कि ये देवता उनकी खेती, घर परिवार और जीवन के रक्षक है। इनकी पूजा, पद्धति, व्रत विधान और विग्रह या मूर्तियों का रूप अलग–अलग होता है, पर मान्यता यही होती है कि वे (लोक देवता) विपत्ति में हमारी रक्षा करेंगे। लोक देवताओं की तरह राजस्थान में लोक संगीत के साधन प्राप्त है, परन्तु समाज के बदलते रूप के साथ राजस्थान की ये कलाएं भी बदल रही है। हस्तकलाओं की पूछ अब केवल विदेशों में ही रह गयी है। कलाओं के प्रति हमारे समाज में अब पहले जैसा सम्मान नही रहा। अनेक कलाएं आज कला–इतिहास का अंग रह गयी है। इस लेख में राजस्थान की हस्तकलाओं और शिल्पकलाओं के बारे में बताया गया है, कि विकास के इस दौर में उनकी स्थिति क्या है? उनके पुर्नजीवन के लिए लोक चेतना का विकास जरूरी है।

मुख्य बिन्दु

लोक देवता, हस्तकलाएँ, मूणमूर्तिया, कठपुतली अलंकरण, वाद्य यंत्र, कावड, सांस्कषतिक विरासत, संग्राहलय, गाथाएँ, वनस्पति रंग।

शूरवीरों की भूमि राजस्थान की हस्तकलाओं व शिल्पकलाओं का वर्णन इस प्रकार है–

लोक कलाकार एवं लोक देवता

हिन्दुओं में 33 करोड देवी–देवताओं की कल्पना की गई हैं और हमारी इन देवी–देवताओं में अटूट श्रद्धा भी हैं। नाथद्वारा से आठ किमी0 दूर 'मालेला' नामक ग्राम में देवी–देवताओं की मिट्टी की मूर्तियॉ बनती है, जिन्हें 'दिगांण' कहा जाता हैं, जो जयपुर से लेकर पूरे मेवाड और गुजरात तक पूजने के लिए लेकर जाई जाती है। यहॉ के 'खेमाराम कुम्हार' को अभूतपूर्व कला–साधना के लिए

1981 में 'राष्ट्रपति पुरस्कार' से भी सम्मानित किया जा चुका है। मोलेला में लोक देवताओं की मृण मूर्तियों की लम्बाई दो, चार या आठ बालिश्त होती है, ये मूर्तिया आकार में छोटी होने के कारण विस्तृत रूप से नहीं उभर पायी हैं। ये मूर्तिया गॉव की ही चिकनी मिट्टी से बनाई जाती हैं। मूर्तियों को अवाउे में पकाया जाता है। आमतौर पर एक वर्ष में तीन आवडे लगाये जाते हैं। कार्तिक, वैशाख और माघ माह में। कुम्हार खेमराम के पिता सात भाई थे, जिनके तेरह लडके और पन्द्रह लडकियॉ थी। बाहर सरकारी नौकरियों में है। इनके अनुसार मूर्तियों की बिक्री सबसे अधिक माघ मास में होती है और गुजराती तथा आदिवासी इनके खास खरीदार होते हैं। आजकल विदेशों में भी इन मूर्तियों को खूब पसंद किया जा रहा है, आधुनिक घरो में भी ड्रांइंग रूप में ये रखी जाने लगी है। इसलिए मांग कुछ बढी है। उचित साधन और विपणन व्यवस्था ठीक हो तो मोलेला के लोक देवी–देवताओं का मूर्तिशिल्प विश्वभर में प्रसिद्धि पा सकता हैं।

कठपुतली बनाना और उनके माध्यम से मनोरंजन करना आज ऐसे लगता है, जैसे बीते जमाने की बात हो, परन्तु राजस्थान के कोटा शहर में आज भी दस्ताना कठपुतली बनाने वाले कलाकार आज भी कठपुतलियॉ बनाते हैं। उनका उद्देश्य प्रचार के माध्यम से इस परम्परागत माध्यम को जीवित रखना हैं। इनके माध्यम से वे आज भी गॉवों में साक्षरता, परिवार कल्याण, बाल विवाह रोकने के प्रति जनसामान्य में जनजागृति का अलख जगाते है। कठपुतली बनाने वाले कलाकार बताते है कि कठपुतली बनाना बहुत सी श्रमसाध्य कार्य है, उनके अनुसार एक कठपुतली बनाने में लगभग 10 दिन लग जाते हैं। मुॅह की आकृति बनाना सबसे कठिन काम है। इनके पास 265 कठपुतलियों में पुलिस वाला, सरदार, डॉक्टर, स्कूल के बच्चे, गॉव का किसान, गॉव की महिला, सेठानी, डाकिया, सपेरा, नेता, अधेड पुरूष व महिला, बंजारा, पंडित, मौलवी, नृत्यांगनाएॅ, गांधी जी, अध्यापक, अधिकारी आदि पात्र हैं। इन कठपुतलियों से विभिन्न कार्यक्रम जैसे राजस्थानी नृत्य घूमर–बंजारा तथा पंजाबी नृतय हिन्दी व राजस्थानी भाषा में प्रस्तुत किये जाते हैं। इनका कार्यक्रम इतना प्रभावोत्पादक होता है कि जैसे सजीव पात्र अभिनव कर रहे हों।

बाढ़मेर का नक्काशी फर्नीचर

बाढ़मेर में नक्काशी फर्नीचर का काम 1965 के बाद शुरू हुआ, जब लडाई में पाकिस्तान के कई सुधार परिवार चौटहन क्षेत्र में आकर बस गये और इन्होने लकडी पर दूसरे रंग की लकडी का 'भरत' का काम शुरू किया। ये लोग दयाल नामक वृक्ष की पीली लकडी तथा कऊ नामक वृक्ष की सफेद लकडी काम में लेते थे। आज इसी क्षेत्र के आलमसर और धणाऊ के सुधार भी नक्शी फर्नीचर बनाने लगे हैं। नक्शी फर्नीचर में पत्थरों के अलंकरणों के साथ ही बारीक जालियॉ और भी लुभावनी लगती है। इनमें पत्थरों से ज्यादा सफाई आती है, बारीकी भी बढ जाती है, इनकी जालियॉ, खिडकियॉ और पार्टीशन बहुत ही खूबसूरत होते हैं।

नक्शीं फर्नीचर की मांग बढाने का श्रेय सेना के जवानों को हैं, जिनके कारण बिना किसी माध्यम के यह कला देश के कोने–कोने में पहुॅच गई। आज भी हमारे सैनिक ही इस काम के सबसे बडे ग्राहक है। पिछले वर्षो में हस्तकला के प्रशसंकों में इस काम की मांग बढी हैं। नक्शी का सबसे अच्छा काम शीशम पर होता हैं, किन्तु अत्यधिक मेहनत के कारण यह काम बहुत महंगा पडता है। आमतौर पर रोहिडा और सांगवान की लकडी काम में आती हैं। आज नक्शी के टेबल, कुर्सी, सोफा, पलंग, दरवाजे आदि का प्रचलन बहुत तेजी से बढ रहा हैं। इसमें प्रयुक्त लकडी बाजार में नही मिलती। जंगल से काटने वाले भील लोग ही इसे बेचते है। नक्शी फर्नीचर का भविष्य बहुत ही अच्छा

हो सकता है, अगर इसे लोगों तक पहुॅचाने के साधन उपलब्ध हो। कुछ कारण यह भी है कि बाढमेर दूर भी बहुत पडता है, और अधिक भारी होने के कारण विदेशी इसे लेकर नही जा सकते। इसके उत्पादनों का प्रचार अधिक अच्छे से हो तो कलाकारों के रोजगार के अवसर बढ सकते है।

लोकवाद्य

संगीत और वाद्य यंत्रों का चोली–दामन का रिश्ता है और जहॉ पर गायक और वादक एक ही व्यक्ति हो, वहॉ यह रिश्ता और भी आगे बढ जाता है। दोनों एक–दूसरे के बिना जीवित नही रह सकते। यदि ऐसी सूरत में किसी संगीत विद्या को बचाना है, तो उन वाद्यों को बचाना भी बहुत आवश्यक हैं। लोक–संगीत के साथ बनजे वाले वाद्य यंत्रों की भी यही स्थिति है। कमायचा, खाज, गुजराती सारंगी, सुरिन्दा, सिंधी, सारंगी आदि लोक वाद्य इसमें आते हैं। राजस्थान में इस समय **मांगणियार और लंगा समुदाय के लगभग चार हजार लोग गाने–बजाने के कार्य मं लगे हुए है** । भारत में सभी लंगा सिंधी सारंगी बजाते हैं और मांगणियार कमायचा। इन वाद्ययंत्रों को बनाने वाला पूरे राजस्थान मे कोई नहीं है। आज जिस संगीत पर हम गर्व करते हैं, कल वह संगीत कैसे बचेगा? जब वाद्य यंत्र ही तो बजेगा क्या? इस अभाव की पूर्ति के लिए एक कलाकार सामने आया है इस कलाकार का नाम है – रिड़मल। यह व्यक्ति रेगिस्तान में हमारे लिए संगीत के वाद्य यंत्र बनाने वाला है। इनका दावा हैं, कि जितने लंगा सारंगी बजाते है, उनके घरों में मेरे बने हाथ की सारंगी जरूर मिलेगी और वे मांगणियारो को भी कमायचें उपलब्ध करायेंगे। आश्चर्य की बात यह है कि रिडमल वाद्य यंत्र बनाते जरूर है परन्तु उन्हें आज तक कोई वाद्य बजाना नहीं आया। वे गाते अवश्य है वो भी संगत लेकर।

पिछले साल रिडमल को केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी का एक अनुदान भी मिला। इस अनुदान के तहत यक तय किया गया कि रिडमल अकादमी को सुरिन्दा, सिंधी सारंगी, रबाब, गुजराती सारंगी और कमायचा के दो सैट बनाने हैं। इन वाद्यों को बनाने के लिए सबसे अच्छी लकडी शीशम की मानी जाती है, जो मजबूत होती हैं, सफाई अच्छी आती है और आवाज भी अच्छी आती है। आम की लकडी से सस्ते वाद्य भी बनाये जाते हैं, परन्तु इनमें सफाई नहीं आती। आवाज जरूर ठीक होती हैं। अच्छे वाद्य बनाने के लिए तार बकरी की ऑतों से बनाये जाते हैं। अब प्लास्टिक के तार भी काम लेने लगे हैं। लोहे और पीतल के तारों का प्रयोग भी होता हैं। लोक वाद्य के भविष्य के बारे में रिडमल का मानना है कि जब तक गाने वाले है, काम बंद नही होगा। इतनी आश्वस्ति, रिडमल की कर्मठता से होती हैं कि लोकसंगीत की गौरवपूर्ण सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के लिए वह पूरी तरह समर्पित हैं। उनका सृजन संघर्ष एक दिन रंग लाएगा क्योंकि साधना कभी निरर्थक नही जाती हैं।

कावड की कला

राजस्थान के ग्रामीण समाज में कावड की चित्रकथा आज भी बहुत आकर्शित करती हैं। यह लकडी के आठ–दस पाटों पर चित्रित की जाती है। इनकी राजस्थान के भाट अपने सुरीले कण्ठ और लोकसंगीत के दम पर इन कथा चित्रों में एक ऐसा जीवन भर देते है जो बहुत आकृष्ट करते हैं। भाट लोग परम्परागत रूप से पाटों पर चित्रित कथा को सुनाते हैं। ये चित्र लकडी के पाटों पर विशेष क्रम से बने हुए होते हैं। देहाती इलाकों में रामलीला और कृष्णलीला को जीवित रखने का बहुत कुछ श्रेय कावड को ही जाता है। 'कृष्णलीला' में भक्तमाल का पाट होता है, जिसमें भगवान कृष्ण के भक्तों के चित्र होते है। दस पाट की बडी कावड में दो पाट शेषनाग के होते हैं। जबकि दरवाजे वाली कावड बारह पाट की ही होती है यह डेढ फुट चौडी बनती हैं।

कावड बनाने की पद्धति परम्परागत रीति से तैयार की जाती है जो अपने आप में एक विशिष्ठ प्रक्रिया है। लकडी का काम करने वाले सुधार लकडी से डिजाइन तेयार करके गढते है। बाद में रंग भरते हैं। एक कावड बनाने में आठ–दस दिन लग जाते है। पुराने समय कावड बनाने वाले तथा उन्हें बॉचने वालों का ग्रामीण जनमानस में विशेष स्थान था। आज भी छोटे–छोटे गांवों में कावड बचवाने की परम्परा मौजूद हैं। लेकिन संचार के बढते साधनों और बदलते परिवेश ने इस लोककला को पिछले कुछ वर्षो में काफी प्रभावित किया है। फलतः कावड बनाने की कला आज राजस्थान में केवल बस्सी (उदयपुर के निकट) तक ही सिमटकर रह गयी है, न केवल कावड बनाने की परम्परागत पद्धति को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है, बल्कि जनमानस में कावड सुनने, बचवाने की जो बरसों से लोक–परम्परा रही है, उसे आधुनिक संचार के साधनों के कहर से भी उतनी ही जरूरत हैं।

पातरे–तिरपणीः हस्तशिल्प

समस्त जैन समाज विशेषकर श्वेताम्बर साधु सन्तों के काम आने वाले पातरे, तिरपणियाँ आदि केवल राजस्थान में ही बनते हैं। राजस्थान में पीपाड, जैतावण और बागड आदि स्थानों पर पातरे–तिरपणी बनाये जाते हैं। वैष्णव सन्तों के काम आने वाले कमण्डल, कठारी और प्लेटें भी यहीं बनती हैं। बीस–पच्चीस वर्षो से बिजली और लेथ मशीन के आने से इस कलात्मक काम के आयाम बदल गये हैं। नई पीढी में एक विशेष अन्तर यह भी आया है कि पुरानी पीढी की तरह आवश्यकतानुसार यें अपने औजार नहीं बना सकतीं। इन्हें बाजार में बने साधारण–औजारों पर ही निर्भर रहना पडता हैं।

पीपाड शहर में सईदुदीन व जलालुद्दीन दो भाई पातरे बनाने का काम आज भी कर रहे हैं। ये स्वयं को खैरादी बताते है। ये पातरों के अलावा दैनिक उपयोग की कलात्मक और जीवनोपयोगी चीजें बनाते हैं। उनका कहना है कि समय के साथ–साथ कुछ चीजे बननी बन्द हो गयी है, क्योंकि उनकी माँग नही रही। दण्डिया (अफीम एकत्र करने की), बंडेल, कुंपला, नसवार डिब्बी अब नहीं बनते। पलंग के पाए, चकला, बेलन, फिरकली, चक्की आदि बनते हैं। समय के साथ कुछ नये काम भी बढ गये है। गुलदस्ता, सुराही, टसर्या, बोडल, कटोरदास सैट, बरनी आदि की मांग आजकल ज्यादा है। इनको बनाने के लिए रोहिड़े की लकडी का प्रयोग किया जाता हैं। यह बहुत महंगा होता हैं और यह आसानी से उपलब्ध भी नहीं होता है। पातरों की संख्या के बारे में उनका मानना है कि हर संप्रदाय के अपने नियम होते हैं उसी के अनुसार सैट बनाये जाते हैं। स्थानकवासी साधुओं का सैट 17 नग का, तेरापंथी साधु का 13 नग का, मंदिर मार्गी साधु का पातरे का सैट 9 नग का, तेरापंथी साधु का सैट 05 नग का होता है। उनका कहना है कि नए लोग इस काम नहीं जुड़ रहे, बल्कि घट रहे हैं। अब अधिकतर घर में प्रयोग होने वाली वस्तुओं बेलन, मूसल, चकले पर ही अधिक ध्यान देते है उनका मानना है कि बाल–बच्चों का पेट काटकर महंगी लकडी खरीदकर इस लोक कला को अब कौन जीवित रख पायेगा? वह दिन अब दूर नहीं, जब पातरे और तिरपणी के दर्शन संग्रहालयों में ही हो पायेंगे।

'बू' के मिट्टी के खिलौने

नागौर के पशु मेले में एक हिस्से में कुम्हारी की हाट लगती है। नागौर जिले के मूण्डवा के पास 'बू' में ये मिट्टी के खिलौने बनते हैं। 'ब' के खिलौने मारवाड के इस भाग में बहुत प्रचलित है, यहॉ के सभी मेलों और हटवाडों में ये बिकते दिखाई देते हैं। यहॉ पर ईसर–गौर, हाथी, घोडा, ऊँट,

कुत्ता, गाडी, सेठ–सेठानी, नाहर, खरगोश, शेर, भैंस, मोर, चक्की आदि कई प्रकार के खिलौने बनते हैं। गॉय नही बनती, क्योंकि इसे पकाने के लिए आग में नही रख सकते। इन खिलौनों की विशेषता यह है कि इन खिलौनों का एक हिस्सा चाक पर, एक हिस्सा सांचे से और एक हिस्सा हाथ से बनाया जाता हैं। यह विशेषता इनके काम को तीन हजार वर्ष पूर्व कालीबंगा, पीलीबंगा व हडप्पा सभ्यता तक ले जाती है। इनके यहॉ की गौर (गणगौर) बहुत प्रसिद्ध हैं।

कला साधना पर हिमताराम (स्थानीकार कलाकार) का कहना हैं कि वे मिट्टी से हर तरह के डिजाइन बना सकते हैं। काली मिट्टी खिलौनों के लिए ठीक होती है, खरबा मिट्टी होने पर गोंद का पानी मिलाना पडता है। खिलौनों को पकाने के लिए अवाडे में किया जाता है, भट्टी में नही। खुले अवाडे के खिलौने लाल तथा बन्द के काले होते हैं। खिलौने काले नही बनाए जाते। हिमताराम के अनुसार उनका खिलौने बनाने का काम अच्छे से चल रहा है यदि धार्मिक मूर्तियों को पकाने की इजाजत मिल जाए तो, क्योंकि 'बू' में अभी भी इन कार्यो पर पाबन्दी है।

शौर्य और संगीत का अनूठा संगम–पड

बदलते समय के साथ–साथ कई राजस्थान की कई कलाऍ भी बदल गई, जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी समाज को संस्कृति का संदेश पहुॅचाती आ रही थीं। कई कलाओं का तो समाज के साथ परोक्ष रूप में दुःख–सुख का साथ भी होता था। ऐसी ही कलाओं में से एक कला है– चितेरो की 'पड़' (चित्रण)।

पड़ या पट्ट एक कपडे पर विशेष क्रम में चित्रांकित की गई एक गाथा होती हैं। एक विशेष समुदाय के लोग किसी विशेष अवसर पर पड को बोलकर या गाकर समझाते है। इनकी विशेषता यह होती है कि **इन चित्रों के क्रम में कोई भी चित्र इधर–उधर नही होता** और यही कारण होता है कि हर क्षेत्र में गायी जाने वाली पडें या उनकी गाथाऍ सभी लोगों को एक ही क्रम में याद रहती हैं और हर पीढ़ी में वही क्रम बना रहता है।

आजकल प्रमुख रूप से देवनाराण, पाबूजी, माताजी, रामदला, कृष्णदला और रामदेव जी की पड बनती है। जो जयपुर, भीलवाडा, कोटा आदि जिलों में विशेष रूप से गाई जाती है। इनको गाने वाले भोपा लोग गूजर, कुम्हार और बलाई जाति के होते हैं। गाने के साथ–साथ 'जन्तर' नामक लोक वाद्य बजता है। देवनारायण को पड को छोडकर बाकि पडे पूरे साल गाई जाती है। राजस्थान के अलग–अलग स्थानों पर अलग–अलग पडे गायी जाती हैं जैसे– बाडमेर जिले में 'पाबूजी' अल्वर भरतपुर क्षेत्र में 'राम–दला' आदि। देवनारायण, पाबूजी और रामदैव जी की कथाऍ रात्री में गाई जाती है, जबकि 'राम दला' और 'कृष्णलीला' दिन में गाए जाते हैं, इन्हें साधु लोग लेकर जाते हैं।

राजस्थान में पड बनाने वालों के लगभग 20 परिवार हैं, जिनमें शाहपुरा के दुर्गेश जोशी तथा भीलवाडा के श्रीलाल जोशी। इनमें से पड चित्रकला के लिए श्रीलाल जोशी को दो बार पुरस्कृत भी किया जा चुका है। श्रीलाल जोशी ने पड कला को नया आयाम दिया है। प्रचलित लोक–कथाओं के अलावा इन्होने हल्दी घाटी युद्ध, पदिमनी का जौहर, गौरा बादल की शौय कथा, महावीर क ापंच कल्याण, हाड़ा रानी, अमर सिंह राठौड जैसी कथाओं का भी चित्रांकन किया। आजकल ये पड कथाओं को पुस्तक रूप में ढालने का प्रयास कर रहे हैं। पड हाथ से बने हुए रेजे पर बनती है व इनमें वनस्पति रंगों का प्रयोग किया जाता है। इन रंगों की खूबी ययह है कि इनकी चमक ऑखों को चुभती नहीं है।

पड सुनने के लिए गांव वालों की भीड लगती हैं। अच्छा गाने वाला भोपा अपनी कला दिखाकर एक दिन में तीन–चार सौ रूपये तक दक्षिणा में इकट्ठा कर लेता है। बदलते जीवन मूल्यों

की बाढ में ग्रामीण अंचल के लोग भी अपनी धार्मिक आस्थाओं में परिवर्तन के लिए छटपटा रहे हैं। ऐसे माहौल में लोक–संस्कृति की यह विशिष्ट लोकगाथात्मक काव्य की कथा–परम्परा कहीं समाप्त ही न हो जाए। इसके जीवनदान के लिए प्रयत्न होने चाहिए।

जयपुर के गलीचें और नमदे

गलीचे और नमदे बनाने का जयपुर का यह उद्योग सबसे पुराना हैं। जार्ज ममफोर्ड जयपुर के गलीचों की कलात्मकता एवं बुनाई के वैशिष्टय पर एक जगह लिखते हैं– जयपुर के गलीचों के नमूने मध्य पूर्व ईरान के नमूनों से काफी मिलते–जुलते हैं। उनमें खजूर के वृक्ष और पशु–पक्षियों के डिजाइन तथा गहरे लाल रंग व कढाई के काम के सुन्दर नमूने हैं। इन पर बार्डर फूल–पत्तियों का बना होता है। यह कला जयपुर में दरी बुनने से शुरू हुई थी, प्राचीनकाल से हीं राजपरिवारों के पूर्ण संरक्षण में थी। वर्तमान में इसी कला ने गलीचा उद्योग का रूप ले लिया है। कालीन बुनाई का जयपुर शहर की 100 मील की परिधि में होता हैं। कौन सा कालीन अच्छा व उम्दा श्रेणी का है इसके लिए सबसे अच्छी पहचान यह है कि एक इंच में जितनी अधिक गांठे होगी, उतनी अच्छी श्रेणी का कालीन माना जायेगा। कालीन बनाने का काम कारीगर अपने घरों में बैठकर ही करते हैं। उसके घर के सभी लोग इस कार्य में जुटे रहते हैं। करघे पर कालीन की बुनाई होती हैं। मालिक लोगों को ही कारीगर के घर लूम लगवानी पडती है, क्योंकि घर पर बुनाई का काम जल्दी हो जाता है, घर पर कोई न कोई सदस्य उसे बनाता ही रहता है और छोटे–छोटे बच्चे वहीं से देखते–सुनते इस कला को सीख लेते हैं। आज की मशीनी युग में भी इसका नाम हस्तकला ही है। यह कार्य बहुत धीरे–धीरे होता है, एक दिन में केवल डेढ से दो इंच की बुनाई होती हैं, यदि दो व्यक्ति भी मिलकर कार्य करें तो एक महीने से दो महीना आसानी से एक गलीचा बनाने में लग जाता है।

वैसे गलीचे बनावट, सामग्री एवं देश, स्थान व समय के अनुसार तरह–तरह के नामों एवं किस्मों के रूप में जाने जाते है। जैसे– मुगल कालीन, रेशमी, सूती, ऊनी, देशी, विदेशी आदि। लेकिन वास्तविक रूप में दो ही प्रकार के अधिक प्रचलित है प्राचीन और आधुनिक। ओरियन्टल एस (प्राचीन गलीचो) का एक अच्छा संग्रह आज भी जयपुर में सवाई मानसिंह द्वितीस संग्राहलय में संकलित हैं। यूरोपीय देशों, संयुक्त राज्य अमेरिका एवं लंदन के संग्राहलयों में इस प्रकार के कालीनों का अच्छा संग्रह हैं।

बाडमेर फर्नीचर

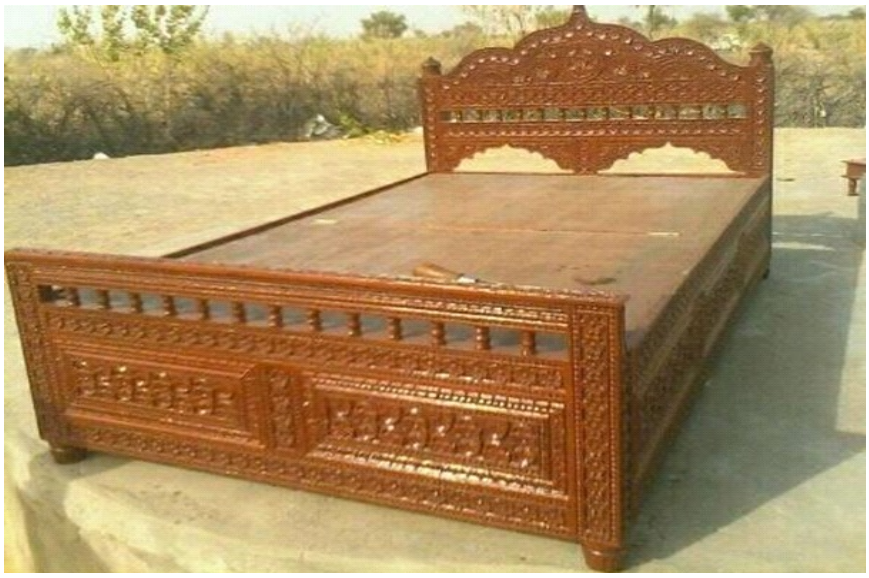

बाडमेर फर्नीचर

जयपुर गलीचा

सन्दर्भ

1. कोठारी, गुलाब. राजस्थान की शिल्प कला।
2. शर्मा. डा0 देवदत्त. राजस्थान का माटी शिल्प।
3. कारसीवाला, डा0 मीनाक्षी. राजस्थान का मूर्तिशिल्प एवं स्थापत्य कला।
4. पॉटरी अंक. समकालीन कला ललित कला अकादमी।
5. शर्मा, डा0 गोपीनाथ. राजस्थान का इतिहास।
6. Parragoh. Rajasthan the land of colours.
7. जैन, डा0 हुकुम चंद., माली, डा0 नारायण लाल. राजस्थान का इतिहास, संस्कृति, परम्परा एवं विरासत।